।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

यह गीता का अन्तिम अध्याय है, जिसके पूर्वार्द्ध में योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा प्रस्तुत अनेक प्रश्नों का समाधान है तथा उत्तरार्द्ध गीता का उपसंहार है कि गीता से लाभ क्या है? सत्रहवें अध्याय में आहार, तप, यज्ञ, दान तथा श्रद्धा का विभागसहित स्वरूप बताया गया, उसी सन्दर्भ में त्याग के प्रकार शेष हैं। मनुष्य जो कुछ करता है, उसमें कारण कौन है? कौन कराता है? भगवान कराते हैं या प्रकृति? यह प्रश्न पहले से आरम्भ था, जिस पर इस अध्याय में पुनः प्रकाश डाला गया। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था की चर्चा हो चुकी थी। सृष्टि में उसके स्वरूप का विश्लेषण इस अध्याय में प्रस्तुत है। अन्त में गीता से मिलनेवाली विभूतियों पर प्रकाश डाला गया है।

गत अध्याय में अनेक प्रकरणों का विभाजन सुनकर अर्जुन ने स्वयं एक प्रश्न रखा कि त्याग और संन्यास को भी विभागसहित बतायें-

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुन बोला - हे महाबाहो! हे हृदय के सर्वस्व! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्याग के यथार्थ स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ। पूर्ण त्याग संन्यास है, जहाँ संकल्प और संस्कारों का भी समापन है और इससे पहले साधना की पूर्ति के लिए उत्तरोत्तर आसक्ति का त्याग ही त्याग है। यहाँ दो प्रश्न हैं कि संन्यास के तत्त्व को जानना चाहता हूँ और दूसरा है कि त्याग के तत्त्व को जानना चाहता हूँ। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अर्जुन! कितने ही पण्डितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और कितने ही विचार-कुशल पुरुष सम्पूर्ण कर्मफलों के त्याग को त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं, अतः त्याग देने योग्य हैं और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार अनेक मत प्रस्तुत करके योगेश्वर अपना भी निश्चित मत देते हैं-

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

हे अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! वह त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ, दान और तप ये तीन प्रकार के कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, इन्हें तो करना ही चाहिए; क्योंकि यज्ञ, दान और तप तीनों ही पुरुषों को पवित्र करनेवाले हैं।

श्रीकृष्ण ने चार प्रचलित मतों का उल्लेख किया। पहला- काम्य कर्मों का त्याग, दूसरा- सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग, तीसरा- दोषयुक्त होने के कारण सभी कर्मों का त्याग और चौथा मत था- यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। उनमें से एक मत में अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा कि अर्जुन! मेरा भी यह निश्चित किया हुआ मत है कि यज्ञ, दान और तपरूप क्रिया त्यागने योग्य नहीं है। इससे सिद्ध है कि कृष्णकाल में भी कई मत प्रचलित थे, जिनमें एक यथार्थ था। उस काल में भी कई मत थे, आज

भी हैं। महापुरुष जब दुनिया में आता है, तो कई मत-मतान्तरों में से कल्याणकारी मत को निकालकर सामने खड़ा कर देता है। प्रत्येक महापुरुष ने यही किया है, श्रीकृष्ण ने भी यही किया। उन्होंने कोई नया मार्ग नहीं बताया, बल्कि प्रचलित कई मतों के बीच सत्य को समर्थन देकर उसे स्पष्ट कर दिया।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण बल देकर कहते हैं - पार्थ! यज्ञ, दान और तपरूप कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर अवश्य करना चाहिए। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। अब अर्जुन के प्रश्न के अनुसार वे त्याग का विश्लेषण करते हैं-

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

हे अर्जुन! नियत कर्म (श्रीकृष्ण के शब्दों में नियत कर्म एक ही है, यज्ञ की प्रक्रिया। इस नियत शब्द को आठ-दस बार योगेश्वर ने कहा। इस पर बार-बार बल दिया कि कहीं साधक भटककर दूसरा न करने लगे), इस शास्त्रविधि से निर्धारित कर्म का त्याग करना उचित नहीं। मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है। सांसारिक विषय-वस्तुओं की आसक्ति में फँसकर कार्यम् कर्म (कार्यम् कर्म, नियत कर्म एक दूसरे के पूरक हैं) का त्याग तामसी है। ऐसा पुरुष **'अधः गच्छति'**- कीट-पतंगपर्यन्त अधम योनियों में जाता है; क्योंकि उसने भजन की प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया। अब राजस त्याग के विषय में बताते हैं-

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

कर्म को दुःखमय समझकर शारीरिक क्लेश के भय से उसका त्याग करनेवाला व्यक्ति राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता। जिससे भजन पार न लगे और **'कायक्लेशभयात्'**- इस भय से कर्म को त्याग दे कि शरीर को कष्ट होगा, उस मनुष्य का त्याग राजस है। उसे

त्याग का फल परमशान्ति नहीं प्राप्त होती । तथा-

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

हे अर्जुन! करना कर्तव्य है - ऐसा समझकर जो **'नियतम्'**- शास्त्र-विधि से निर्धारित किया हुआ कर्म संगदोष और फल को त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग है। अतः नियत कर्म करें और इसके सिवाय जो कुछ है, उसका त्याग कर दें। यह नियत कर्म भी क्या करते ही रहेंगे या कभी इसका भी त्याग होगा? इस पर कहते हैं, (अब अन्तिम त्याग का रूप देखें)-

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

हे अर्जुन! जो पुरुष ''अकुशलं कर्म'' अर्थात् अकल्याणकारी कर्म से (शास्त्र नियत कर्म ही कल्याणकारी है। इसके विरोध में जो कुछ है, इसी लोक का बन्धन है इसलिये अकल्याणकारी है, ऐसे कर्मों से) द्वेष नहीं करता और कल्याणकारी कर्म में आसक्त नहीं होता, जो करना था वह भी शेष नहीं है - ऐसा सत्त्व से संयुक्त पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् और त्यागी है। उसने सब कुछ त्यागा है, लेकिन प्राप्ति के साथ वह पूर्ण त्याग ही संन्यास है। हो सकता है और कोई सरल रास्ता हो? इस पर कहते हैं - नहीं। देखें-

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहधारी पुरुषों के द्वारा (केवल शरीर ही नहीं, जिसे आप देखते हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार, प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज, तम तीनों गुण ही इस जीवात्मा को शरीरों में बाँधते हैं। जब तक गुण जीवित हैं तब तक वह जीवधारी है। किसी न किसी रूप में शरीर परिवर्तित होता रहेगा। देह के कारण जब तक जीवित है।) सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग संभव नहीं है, इसलिये जो पुरुष कर्म के फल का त्यागी है, वही त्यागी है - ऐसा कहा

जाता है। अतः जब तक शरीर के कारण जीवित हैं, तब तक नियत कर्म करें और उनके फल का त्याग करें। बदले में किसी फल की कामना न करें। वैसे सकामी पुरुषों के कर्मों का फल भी होता है-

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

सकामी पुरुषों के कर्मों का अच्छा, बुरा और मिला हुआ - ऐसा तीन प्रकार का फल मरने का पश्चात् भी होता है, जन्म-जन्मान्तरों तक मिलता है; किन्तु **'संन्यासिनाम्'**- सर्वस्व का न्यास (अन्त) करनेवाले पूर्ण त्यागी पुरुषों के कर्मों का फल किसी भी काल में नहीं होता। यही शुद्ध संन्यास है। संन्यास चरमोत्कृष्ट अवस्था है। भले-बुरे कर्मों का फल तथा पूर्ण न्यासकाल में उनके अन्त का प्रश्न पूरा हुआ। अब पुरुष के द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म होने में क्या कारण हैं? इस पर देखें-

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए पाँच कारण सांख्य-सिद्धान्त में कहे गये हैं, उन्हें तू मुझसे भली प्रकार जान।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

इस विषय में कर्त्ता (यह मन), पृथक्-पृथक् करण (जिनके द्वारा किया जाता है। यदि शुभ पार लगता है तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनवरत चिन्तन की प्रवृत्तियाँ इत्यादि करण होंगी। यदि अशुभ पार लगता है तो काम, क्रोध, राग, द्वेष, लिप्सा इत्यादि करण होंगे। इनके द्वारा प्रेरित होंगे।), नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टाएँ (अनन्त इच्छाएँ), आधार (अर्थात् साधन, जिस इच्छा के साथ साधन मिला वही इच्छा पूरी होने लगती है।) और पाँचवाँ हेतु है दैव अथवा संस्कार। इसकी पुष्टि करते हैं-

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उनके ये पाँचों ही कारण हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी-

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण उस विषय में कैवल्य स्वरूप आत्मा को कर्त्ता देखता है, वह दुर्बुद्धि यथार्थ नहीं देखता अर्थात् भगवान नहीं करते।

इस प्रश्न पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दूसरी बार बल दिया। अध्याय ५ में उन्होंने कहा था कि वह प्रभु न करता है, न कराता है, न क्रिया के संयोग को जोड़ता है। तो लोग कहते क्यों हैं? मोह से लोगों की बुद्धि आवृत्त है, इसलिये कुछ भी कह सकते हैं। यहाँ भी कहते हैं - कर्म होने में पाँच कारण हैं। उसके बावजूद भी जो कैवल्य स्वरूप परमात्मा को कर्त्ता देखता है, वह मूढ़बुद्धि (दुर्बुद्धि) यथार्थ नहीं देखता अर्थात् भगवान नहीं करते, जब कि अर्जुन के लिए वे ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं, **'निमित्तमात्रं भव'** कि कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ, तू निमित्त बनकर खड़ा भर रह। अन्ततः वे महापुरुष कहना क्या चाहते हैं?

वस्तुतः भगवान और प्रकृति के बीच एक आकर्षण रेखा है। जब तक साधक प्रकृति की सीमा में है, भगवान नहीं करते। बहुत समीप रहकर भी द्रष्टा-रूप में ही रहते हैं। अनन्य भाव से इष्ट को पकड़ने पर वे हृदय-देश में संचालक बन जाते हैं। साधक प्रकृति की आकर्षण सीमा से निकलकर उनके क्षेत्र में आ जाता है। ऐसे अनुरागी के लिए वे ताल ठोंककर सदैव खड़े रहते हैं। केवल उसी के लिये भगवान करते हैं। अतः चिन्तन करें। प्रश्न पूरा हुआ। आगे देखें-

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्त्ता हूँ' - ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न बँधता है। लोक-सम्बन्धी संस्कारों का

विलय ही लोक-संहार है। अब उस नियत कर्म की प्रेरणा कैसे होती है? इस पर देखें-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः।।१८।।

अर्जुन! परिज्ञाता अर्थात् पूर्ण ज्ञाता महापुरुषों से, **'ज्ञानम्'**- उसको जानने की विधि से और **'ज्ञेयम्'**- जानने योग्य वस्तु (श्रीकृष्ण ने पीछे कहा कि मैं ही ज्ञेय, जानने योग्य पदार्थ हूँ) से कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। पहले तो पूर्ण ज्ञाता कोई महापुरुष हो, उसके द्वारा उस ज्ञान को जानने की विधि प्राप्त हो, लक्ष्य - ज्ञेय पर दृष्टि हो तभी कर्म की प्रेरणा मिलती है और कर्त्ता (मन की लगन), करण (विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि) तथा कर्म की जानकारी से कर्म का संग्रह होता है, कर्म इकट्ठा होने लगता है। पीछे कहा गया था कि प्राप्ति के पश्चात् उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं होता और न छोड़ने से हानि ही होती है; फिर भी लोकसंग्रह अर्थात् पीछे वालों के हृदय में कल्याणकारी साधनों के संग्रह के लिए वह कर्म में बरतता है। कर्त्ता, करण और कर्म के द्वारा इनका संग्रह होता है। ज्ञान, कर्म और कर्त्ता के भी तीन-तीन भेद हैं-

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता भी गुणों के भेद से सांख्यशास्त्र में तीन-तीन प्रकार के कहे गये हैं, उन्हें भी तू यथावत् सुन। प्रस्तुत है पहले ज्ञान का भेद-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म-भाव को विभागरहित एकरस देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति है, जिसके साथ ही गुणों का अन्त होना है। यह ज्ञान की परिपक्व अवस्था है। अब राजस ज्ञान देखें-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों में भिन्न प्रकार के अनेक भावों को अलग-अलग करके जानता है कि यह अच्छा है, ये बुरे हैं - उस ज्ञान को तू राजस जान। ऐसी स्थिति है, तो राजसी स्तर पर तुम्हारा ज्ञान है। अब देखें तामस ज्ञान-

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो ज्ञान एकमात्र शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है, युक्तिरहित अर्थात् जिसके पीछे कोई क्रिया नहीं है, तत्त्व के अर्थस्वरूप परमात्मा की जानकारी से अलग करनेवाला और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा जाता है। अब प्रस्तुत है कर्म के तीन भेद-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

जो कर्म '**नियतम्**'- शास्त्रविधि से निर्धारित है (अन्य नहीं), संगदोष और फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया जाता है, वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है। [नियत कर्म (आराधना) चिन्तन है, जो परम में प्रवेश दिलाता है।]

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है, फल को चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा जाता है। यह पुरुष भी वही नियत कर्म करता है; किन्तु अन्तर मात्र इतना ही है कि फल की इच्छा और अहंकार से युक्त है इसलिये उसके द्वारा होनेवाले कर्म राजस हैं। अब देखें तामस-

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

जो कर्म अन्ततः नष्ट होनेवाला है, हिंसा-सामर्थ्य को न विचार कर केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है। स्पष्ट

है, यह कर्म शास्त्र का नियत कर्म नहीं है। उसके स्थान पर भ्रान्ति है। अब देखें, कर्त्ता के लक्षण-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

जो कर्त्ता संगदोष से रहित होकर, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त होकर, कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष, शोक इत्यादि विकारों से सर्वथा रहित होकर कर्म में (अहर्निश) प्रवृत्त है, वह कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है। यही उत्तम साधक के लक्षण हैं। कर्म वही है - नियत कर्म।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

आसक्तियुक्त, कर्मों के फल को चाहनेवाला, लोलुप, आत्माओं को कष्ट देनेवाला, अपवित्र और हर्ष-शोक से जो लिप्त है, वह कर्त्ता राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

जो चंचल चित्तवाला, असभ्य, घमण्डी, धूर्त, दूसरे के कार्यों में बाधा पहुँचानेवाला, शोक करने के स्वभाववाला, आलसी और दीर्घसूत्री है कि फिर कर लेंगे, वह कर्त्ता तामस कहा जाता है। दीर्घसूत्री कर्म को कल पर टालनेवाला है, यद्यपि करने की इच्छा उसे भी रहती है। इस प्रकार कर्त्ता के लक्षण पूरे हुए। अब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नवीन प्रश्न उठाया - बुद्धि, धारणा और सुख के लक्षण-

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

धनंजय! बुद्धि और धारणा शक्ति का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का भेद सम्पूर्णता से विभागपूर्वक मुझसे सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

पार्थ! प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। अर्थात् परमात्म-पथ, आवागमन-पथ दोनों की भली प्रकार जानकारी सात्त्विकी बुद्धि है। यथा-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

पार्थ! जिस बुद्धि द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को भी यथावत् नहीं जानता, अधूरा जानता है, वह बुद्धि राजसी है। अब तामसी बुद्धि का स्वरूप देखें-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

पार्थ! तमोगुण से ढँकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा सम्पूर्ण हितों को विपरीत ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है।

यहाँ श्लोक तीस से बत्तीस तक बुद्धि के तीन भेद बताये गये। पहली बुद्धि को किस कार्य से निवृत्त होना है और किसमें प्रवृत्त होना है, कौन कर्त्तव्य है और कौन अकर्त्तव्य है, इसकी भली प्रकार जानकारी रखती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को धूमिल ढंग से जानती है, यथार्थ नहीं जानती, वह राजसी बुद्धि है और अधर्म को धर्म, नश्वर को शाश्वत तथा हित को अहित, इस प्रकार विपरीत जानकारीवाली बुद्धि तामसी है। इस प्रकार बुद्धि के भेद समाप्त हुए। अब प्रस्तुत है दूसरा प्रश्न, '**धृति**'- धारणा के तीन भेद-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

'**योगेन**'- यौगिक प्रक्रिया के द्वारा '**अव्यभिचारिणी**'- योग-चिन्तन के अलावा दूसरे किसी स्फुरण का आना व्यभिचार है, चित्त का बहक जाना व्यभिचार है; अतः ऐसी अव्यभिचारिणी धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को जो धारण करता है, वह धारणा सात्त्विकी है। अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियों को इष्ट की दिशा में मोड़ना ही सात्त्विकी धारणा है। तथा-

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

हे पार्थ! फल की इच्छावाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धारणा के द्वारा केवल धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है (मोक्ष को नहीं), वह धारणा राजसी है। इस धारणा में भी लक्ष्य वही है, केवल कामना करता है। जो कुछ करता है, उसके बदले में चाहता है। अब तामसी धारणा के लक्षण देखें-

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और अभिमान को भी (नहीं छोड़ता इन सबको) धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है। यह प्रश्न पूरा हुआ। अगला प्रश्न है, सुख-

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

अर्जुन! अब सुख भी तीन प्रकार का मुझसे सुन। उनमें से जिस सुख में साधक अभ्यास से रमण करता है अर्थात् चित्त को समेटकर इष्ट में रमण करता है और जो दुःखों का अन्त करनेवाला है। तथा,

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

उपर्युक्त सुख साधन के आरम्भकाल में यद्यपि विष के सदृश लगता है (प्रह्लाद को शूली पर चढ़ाया गया, मीरा को विष मिला। कबीर कहते हैं - **'सुखिया सब संसार है, खाये और सोवे। दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे।'** अतः आरम्भ में विष-जैसा भासता है) परन्तु परिणाम में अमृततुल्य है, अमृत तत्त्व को दिलानेवाला है। अतः आत्म-विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख सात्त्विक कहा गया है। तथा-

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के सदृश लगता है किन्तु परिणाम में विष के सदृश है; क्योंकि जन्म-मृत्यु का कारण है, वह सुख राजस कहा गया है। तथा-

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

जो सुख भोगकाल और परिणाम में भी आत्मा को मोह में डालनेवाला है, निद्रा **'या निशा सर्वभूतानाम्'**- जगत् की निशा में अचेत रखनेवाला है, आलस्य और व्यर्थ की चेष्टाओं से उत्पन्न वह सुख तामस कहा गया है। अब योगेश्वर श्रीकृष्ण गुणों की पहुँच बताते हैं, जो सबके पीछे लगे हैं-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

अर्जुन! पृथ्वी में, स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो। अर्थात् ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंग यावन्मात्र जगत् क्षणभंगुर, मरने-जीनेवाला है, तीनों गुणों के अन्तर्गत है अर्थात् देवता भी तीनों गुणों का विकार है, नश्वर है।

यहाँ बाह्य देवताओं को योगेश्वर ने चौथी बार लिया। अध्याय सात, नौ, सत्रह तथा यहाँ अठारहवें अध्याय में। इन सबका एक ही अर्थ है कि देवता तीनों गुणों के अन्तर्गत हैं। जो इन्हें भजता है, नश्वर की पूजा करता है।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में महर्षि शुक तथा परीक्षित का प्रसिद्ध आख्यान है। जिसमें उपदेश देते वे कहते हैं कि स्त्री-पुरुष में प्रेम के लिए शंकर-पार्वती की, आरोग्य के लिए अश्विनीकुमारों की, विजय के लिए इन्द्र की तथा धन के लिए कुबेर की पूजा करें। इसी तरह विविध कामनाएँ बताकर अन्त में निर्णय देते हैं कि सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति और मोक्ष के लिए तो एकमात्र नारायण की पूजा करनी चाहिए। **''तुलसी मूलहिं सींचिए, फूलइ फलई अघाई।''** अस्तु, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करें, जिसकी पूर्ति के लिये सद्गुरु की शरण, निष्कपट भाव से प्रश्न और सेवा एकमात्र उपाय है।

आसुरी और दैवी सम्पद् अन्तःकरण की दो वृत्तियाँ हैं। जिसमें दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा का दिग्दर्शन कराती है, इसलिये दैवी कही जाती है; किन्तु यह भी तीनों गुणों के ही अन्तर्गत है। गुण शान्त होने के पश्चात् इनकी भी शान्ति हो जाती है। तत्पश्चात् उस आत्मतृप्त योगी के लिये कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

अब प्रस्तुत है पीछे से आरम्भ हुआ प्रश्न वर्ण-व्यवस्था। वर्ण जन्म-प्रधान है अथवा कर्मों से पायी जानेवाली अन्तःकरण की योग्यता का नाम है? इस पर देखें-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। स्वभाव में सात्त्विक गुण होगा तो आप में निर्मलता होगी, ध्यान-समाधि की क्षमता होगी। तामसी गुण होगा तो आलस्य, निद्रा, प्रमाद रहेगा। उसी स्तर से आपसे कर्म भी होगा। जो गुण कार्यरत है, वही आपका वर्ण है, स्वरूप है। इसी प्रकार अर्द्ध सात्त्विक और अर्द्ध राजस से एक वर्ग क्षत्रिय का है और आधा से कम तामस तथा विशेष राजस से द्वितीय वर्ग वैश्य का है।

इस प्रश्न को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यहाँ चौथी बार लिया है। अध्याय दो में इन चार वर्णों में से एक क्षत्रिय का नाम लिया कि क्षत्रिय के लिये युद्ध से श्रेयतर कोई मार्ग नहीं है। तीसरे अध्याय में उन्होंने कहा कि दुर्बल गुणवाले के लिए भी उसके स्वभाव से उत्पन्न योग्यता के अनुसार धर्म में प्रवृत्त होना, उसमें मर जाना भी परम कल्याणकारक है। दूसरों की नकल करना भयावह है। अध्याय चार में बताया कि चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार जातियों में बाँटा? कहते हैं - नहीं, '**गुणकर्म विभागशः**'- गुणों की योग्यता से कर्म को चार सोपानों में बाँटा। यहाँ गुण एक पैमाना है, उसके द्वारा मापकर कर्म करने की क्षमता को चार भागों में बाँटा। श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म एकमात्र अव्यक्त पुरुष की प्राप्ति की क्रिया है। ईश्वर-

प्राप्ति का आचरण आराधना है, जिसकी शुरुआत मात्र एक इष्ट में श्रद्धा से है। चिन्तन की विधि-विशेष है, जिसे पीछे बता आये हैं। इस यज्ञार्थ कर्म को चार भागों में बाँटा। अब कैसे समझें कि हममें कौन से गुण हैं और किस श्रेणी के हैं? इस पर यहाँ कहते हैं-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, पूर्ण पवित्रता; मन, वाणी और शरीर को इष्ट के अनुरूप तपाना, क्षमाभाव; मन, इन्द्रियों और शरीर की सर्वथा सरलता, आस्तिक बुद्धि अर्थात् एक इष्ट में सच्ची आस्था, ज्ञान अर्थात् परमात्मा की जानकारी का संचार, विज्ञान अर्थात् परमात्मा से मिलनेवाले निर्देशों की जागृति एवं उसके अनुसार चलने की क्षमता, यह सब स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के कर्म हैं अर्थात् जब स्वभाव में यह योग्यताएँ पायी जायँ, कर्म धारावाही होकर स्वभाव में ढल जाय, तो वह ब्राह्मण श्रेणी का कर्त्ता है। तथा-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

शूरवीरता, ईश्वरीय तेज का मिलना, धैर्य, चिन्तन में दक्षता अर्थात् **'कर्मसु कौशलम्'**- कर्म करने में दक्षता, प्रकृति के संघर्ष से न भागने का स्वभाव, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण, सब भावों पर स्वामीभाव अर्थात् ईश्वरभाव - यह सब क्षत्रिय के **'स्वभावजम्'**- स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। स्वभाव में ये योग्यताएँ पायी जाती हैं, तो वह कर्त्ता क्षत्रिय है। अब प्रस्तुत है, वैश्य तथा शूद्र का स्वरूप-

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषि, गो-रक्षा और व्यवसाय वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। गोपालन ही क्यों? भैंस को मार डालें? बकरी न रखें? ऐसा कुछ नहीं है। सूदूर वैदिक वाङ्मय में 'गो' शब्द अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के लिये प्रचलित था। गो-रक्षा का अर्थ है, इन्द्रियों की रक्षा। विवेक, वैराग्य, शम, दम के द्वारा इन्द्रियाँ

सुरक्षित होती हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह के द्वारा ये विभक्त हो जाती हैं, क्षीण हो जाती हैं। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। यह अपना निज धन है, जो एक बार साथ हो जाने पर सदैव साथ देता है। प्रकृति के द्वन्द्वों में से उनका शनैः-शनैः संग्रह करना व्यवसाय है (**'विद्या धनम् सर्वधनप्रधानम्'** - इसे अर्जित करना वाणिज्य है।) खेती? शरीर ही एक क्षेत्र है। इसके अन्तराल में बोया हुआ बीज संस्कार रूप में भला-बुरा जमता है। अर्जुन! इस निष्काम कर्म में बीज अर्थात् आरम्भ का नाश नहीं होता। (उनमें से कर्म की इस तीसरी श्रेणी में कर्म अर्थात् इष्ट-चिन्तन नियत कर्म) परमतत्त्व के चिन्तन का जो बीज इस क्षेत्र में पड़ा है, उसे सुरक्षित रखते हुए इसमें आनेवाले विजातीय विकारों का निराकरण करते जाना खेती है।

कृषि निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।। (मानस, ४।१४।८)

इस प्रकार इन्द्रियों की सुरक्षा तथा प्रकृति के द्वन्द्वों से आत्मिक सम्पत्ति को संग्रहित करना और इस क्षेत्र में परमतत्त्व के चिन्तन का सम्वर्द्धन - यह वैश्य श्रेणी का कर्म है।

श्रीकृष्ण के अनुसार **'यज्ञशिष्टाशिनः'**- पूर्तिकाल में यज्ञ जिसे देता है, वह है परात्पर ब्रह्म। उसको पान करनेवाले सन्तजन सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और उसी का शनैः-शनैः चिन्तन-क्रिया से बीजारोपण होता है। उसकी सुरक्षा खेती है। वैदिक शास्त्रों में अन्न का अर्थ है परमात्मा। वह परमात्मा ही एकमात्र अशन है, अन्न है। चिन्तन की पूर्तिकाल में यह आत्मा पूर्णतः तृप्त हो जाती है, फिर कभी अतृप्त नहीं होती, आवागमन में नहीं आती। इस अन्न के बीज को जमाते हुए आगे बढ़ाना कृषि है।

अपने से उन्नत अवस्थावाले, प्राप्तिवाले गुरुजनों की सेवा करना शूद्र का स्वभावजन्य कर्म है। शूद्र का अर्थ नीच नहीं अपितु अल्पज्ञ है। निम्न श्रेणी का साधक ही शूद्र है। प्रवेशिका श्रेणी का वह साधक परिचर्या से ही आरम्भ करे। शनैः-शनैः सेवा से उसके हृदय में उन संस्कारों का सृजन होगा और क्रमशः चलकर वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणपर्यन्त दूरी तय

करके, वर्णों को भी पार करके ब्रह्म में प्रवेश पा जायेगा। स्वभाव परिवर्तनशील है। स्वभाव के परिवर्तन के साथ वर्ण-परिवर्तन हो जाता है। वस्तुतः ये वर्ण अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट चार अवस्थाएँ हैं, कर्मपथ पर चलनेवाले साधकों की ऊँची-नीची चार सीढ़ियाँ हैं। कर्म एक ही है, नियत कर्म। श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमसिद्धि की प्राप्ति का यही एक रास्ता है कि स्वभाव में जैसी योग्यता है, वहीं से लगे। इसको देखें-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अपने-अपने स्वभाव में पायी जानेवाली योग्यता के अनुसार कर्म में लगा हुआ मनुष्य **'संसिद्धिम्'**- भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि को प्राप्त होता है। पहले भी कह आये हैं - इस कर्म को करके तू परमसिद्धि को प्राप्त होगा। कौन-सा कर्म करके? अर्जुन! तू शास्त्रविधि से निर्धारित कर्म, यज्ञार्थ कर्म कर। अब स्वकर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को किस प्रकार प्राप्त होता है, वह विधि तू मुझसे सुन। ध्यान दें-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

जिस परमात्मा से सब भूतों की उत्पत्ति हुई, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को **'स्वकर्मणा'**- अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म के द्वारा अर्चन कर मानव परमसिद्धि को प्राप्त होता है। अतः परमात्मा की भावना और परमात्मा का ही सर्वांगीण अर्चन और क्रमशः चलना आवश्यक है। जैसे, कोई बड़ी कक्षा में बैठ जाय, तो छोटी भी खो देगा और बड़ी तो मिलेगी ही नहीं। अतः इस कर्मपथ पर सोपानशः चलने का विधान है। जैसे १८/६ में। इसी पर पुनः बल देते हुए कहते हैं कि आप अल्पज्ञ ही क्यों न हों, वहीं से आरम्भ करें। वह विधि है - परमात्मा के प्रति समर्पण।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

अच्छी प्रकार अनुष्ठान किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी स्वधर्म परमकल्याणकारक है। **'स्वभावनियतम्'**- स्वभाव से निर्धारित किया हुआ, कर्म करता हुआ मनुष्य पाप अर्थात् आवागमन को प्राप्त नहीं होता। प्रायः साधकों को उच्चाटन होने लगता है कि हम सेवा करते ही रहेंगे। वे तो ध्यानस्थ हैं। अच्छे गुणों के कारण उनका सम्मान है। तुरंत वे नकल करने लगते हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार नकल या ईर्ष्या से कुछ मिलेगा नहीं। अपने स्वभाव से कर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म करके ही कोई परमसिद्धि पाता है, छोड़कर नहीं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेय! दोषयुक्त (अल्पज्ञ अवस्थावाला है तो सिद्ध है कि अभी दोषों का बाहुल्य है, ऐसा दोषयुक्त भी) **'सहजं कर्म'**- स्वभाव से उत्पन्न सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए; क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से आवृत्त हैं। ब्राह्मण श्रेणी ही सही, कर्म तो करना पड़ रहा है। स्थिति नहीं मिली, तब तक दोष विद्यमान है, प्रकृति का आवरण विद्यमान है। दोषों का अन्त वहाँ होगा, जहाँ ब्राह्मण श्रेणी का कर्म भी ब्रह्म में प्रवेश के साथ विलय हो जाता है। उस प्राप्तिवाले का लक्षण क्या है, जहाँ कर्मों से प्रयोजन नहीं रह जाता?-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

सर्वत्र आसक्ति से रहित बुद्धिवाला, स्पृहा से सर्वथा रहित, जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष **'संन्यासिनाम्'**- सर्वस्व के न्यास की अवस्था में परम नैष्कर्म्य की सिद्धि को प्राप्त होता है। यहाँ संन्यास और परम नैष्कर्म्य सिद्धि पर्याय हैं। यहाँ सांख्य योगी वहीं पहुँचता है, जहाँ कि निष्काम कर्मयोगी। यह उपलब्धि दोनों मार्गियों के लिए समान है। अब परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसका संक्षेप में चित्रण करते हैं-

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

कौन्तेय! जो ज्ञान की परानिष्ठा है, पराकाष्ठा है, उस परमसिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्म को जैसे प्राप्त होता है, उस विधि को तू मुझसे संक्षेप में जान। अगले श्लोक में वही विधि बता रहे हैं, ध्यान दें-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अर्जुन! विशेष रूप से शुद्ध बुद्धि से युक्त, एकान्त और शुभदेश का सेवन करनेवाला, साधना में जितना सहायक हो उतना ही आहार करनेवाला, जीते हुए मन, वाणी और शरीरवाला, दृढ़ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यानयोग के परायण और ऐसी धारणा से युक्त अर्थात् इसी सब को धारण करनेवाला तथा अन्तःकरण को वश में करके शब्दादिक विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष को नष्ट करके तथा-

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, बाह्य वस्तुओं और आन्तरिक चिन्तनों का त्यागकर, ममतारहित, शान्त अन्तःकरण हुआ पुरुष परब्रह्म के साथ एकीभाव होने के लिए योग्य होता है। आगे देखें-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्म के साथ एकीभाव होने की योग्यतावाला वह प्रसन्नचित्त पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। सब भूतों में समभाव हुआ वह भक्ति की पराकाष्ठा पर है। भक्ति अपना परिणाम देने की स्थिति में है, जहाँ ब्रह्म में प्रवेश मिलता है। अब-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझे तत्त्व से भली प्रकार जानता है। वह तत्त्व है क्या? मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ, अजर-अमर-शाश्वत जिन

अलौकिक गुणधर्मों वाला हूँ, उसे जानता है और मुझे तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश कर जाता है। प्राप्तिकाल में तो भगवान दिखायी पड़ते हैं और प्राप्ति के ठीक बाद तत्क्षण वह अपने ही आत्मस्वरूप को उन ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त पाता है कि आत्मा ही अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और सनातन है।

दूसरे अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था - आत्मा ही सत्य है, सनातन है, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है; किन्तु इन विभूतियों से युक्त आत्मा को केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अब वहाँ प्रश्न स्वाभाविक था कि वस्तुतः तत्त्वदर्शिता है क्या? बहुत से लोग पाँच तत्त्व, पचीस तत्त्व की बौद्धिक गणना करने लगते हैं; किन्तु इस पर श्रीकृष्ण ने यहाँ अठारहवें अध्याय में निर्णय दिया कि परमतत्त्व है परमात्मा। जो उसे जानता है, वही तत्त्वदर्शी है। अब यदि आपको तत्त्व की चाह है, परमात्म-तत्त्व की चाह है तो भजन-चिन्तन आवश्यक है।

यहाँ श्लोक उनचास से पचपन तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि संन्यास मार्ग में भी कर्म करना है। उन्होंने कहा, **'संन्यासेन'**- संन्यास के द्वारा (अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा) कर्म करते-करते इच्छारहित, आसक्तिरहित तथा जीते हुए शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष जिस प्रकार नैष्कर्म्य की परमसिद्धि को प्राप्त होता है, उसे संक्षेप में कहूँगा। अहंकार, बल, दर्प, काम-क्रोध, मद-मोह इत्यादि प्रकृति में गिरानेवाले विकार जब सर्वथा शान्त हो जाते हैं और विवेक, वैराग्य, शम-दम, एकान्त सेवन, ध्यान इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली योग्यताएँ जब पूर्णतया परिपक्व हो जाती हैं, उस समय वह ब्रह्म को जानने योग्य होता है। उस योग्यता का नाम ही पराभक्ति है। इसी योग्यता द्वारा वह तत्त्व को जानता है। तत्त्व है क्या? मुझे जानता है। भगवान जो है, जिन विभूतियों से युक्त है उसे जानता है और मुझे जानकर तत्क्षण मुझमें ही स्थित हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म, तत्त्व, ईश्वर, परमात्मा और आत्मा एक दूसरे के पर्याय हैं। एक की जानकारी के साथ ही इन सबकी जानकारी हो जाती है। यही परमसिद्धि, परमगति, परमधाम भी है।

अतः गीता का दृढ़ निश्चय है कि संन्यास और निष्काम कर्मयोग दोनों ही परिस्थितियों में परम नैष्कर्म्य सिद्धि को पाने के लिए नियत कर्म (चिन्तन) अनिवार्य है।

अब तक तो संन्यासी के लिए भजन-चिन्तन पर बल दिया और अब समर्पण कहकर उसी वार्त्ता को निष्काम कर्मयोगी के लिए भी कहते हैं-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

मुझ पर विशेष रूप से आश्रित हुआ पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ, लेशमात्र भी त्रुटि न रखकर करता हुआ मेरे कृपा-प्रसाद से शाश्वत, अविनाशी परमपद को प्राप्त होता है। कर्म वही है - नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया। पूर्ण योगेश्वर सद्गुरु के आश्रित साधक उनके कृपा-प्रसाद से शीघ्र पा जाता है। अतः उसे पाने के लिये समर्पण आवश्यक है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अतः अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों को (जितना कुछ तुझसे बन पड़ता है) मन से मुझे अर्पित करके, अपने भरोसे नहीं बल्कि मुझे समर्पण करके, मेरे परायण हुआ बुद्धियोग अर्थात् योग की बुद्धि का अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगा। योग एक ही है, जो सर्वथा दुःखों का अन्त करनेवाला और परमतत्त्व परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाला है। उसकी क्रिया भी एक ही है - यज्ञ की प्रक्रिया, जो मन तथा इन्द्रियों के संयम, श्वास-प्रश्वास तथा ध्यान इत्यादि पर निर्भर है। जिसका परिणाम भी एक ही है - **'यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'** इसी पर आगे कहते हैं-

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

इस प्रकार मुझमें निरन्तर चित्त को लगानेवाला होकर तू मेरी कृपा से मन और इन्द्रियों के सम्पूर्ण दुर्गों को अनायास ही तर जाएगा। **'इन्द्रिन्ह द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।। आवत देखहि विषय**

बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।'- ये ही दुर्जय दुर्ग हैं। मेरी कृपा से तू इन बाधाओं का अतिक्रमण कर जायेगा; किन्तु यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा, तो विनष्ट हो जायेगा, परमार्थ से च्युत हो जायेगा। पुनः इसी पर बल देते हैं-

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे बलात् युद्ध में लगा देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

कौन्तेय! मोहवश तू जिस कर्म को नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा। प्रकृति के संघर्ष से न भागने का तुम्हारा क्षत्रिय श्रेणी का स्वभाव तुम्हें बरबस कर्म में लगायेगा। प्रश्न पूरा हुआ। अब वह ईश्वर रहता कहाँ है? इस पर कहते हैं-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। इतना समीप है तो लोग जानते क्यों नहीं? मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर सब लोग भ्रमवश चक्कर लगाते ही रहते हैं, इसलिए नहीं जानते। यह यन्त्र बड़ा बाधक है, जो बार-बार नश्वर कलेवरों (शरीरों) में घुमाता रहता है। तो शरण किसकी लें?-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

इसलिए हे भारत! सम्पूर्ण भाव से उस ईश्वर की (जो हृदय-देश में स्थित है) अनन्य शरण को प्राप्त हो। उसकी कृपा-प्रसाद से तू परमशान्ति, शाश्वत परमधाम को प्राप्त होगा। अतः ध्यान करना है तो हृदय-देश में

करें। यह जानते हुए भी मन्दिर, मस्जिद, चर्च या अन्यत्र खोजना समय बरबाद करना है। हाँ, जानकारी नहीं है तब तक स्वाभाविक है। ईश्वर का निवास-स्थान हृदय है। भागवत के चतुःश्लोकी गीता का सारांश भी यही है कि वैसे तो मैं सर्वत्र हूँ; किन्तु प्राप्त होता हूँ तो हृदय-देश में ध्यान करने से ही।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

इस प्रकार बस इतना ही गोपनीय से भी अतिगोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा है। इस विधि से सम्पूर्ण रूप से विचार कर; फिर तू जैसा चाहता है, वैसा कर। सत्य यही है, शोध की स्थली यही है, प्राप्ति की स्थली भी यही है। किन्तु हृदयस्थित ईश्वर दिखाई नहीं देता, इस पर उपाय बताते हैं-

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीय से भी अतिगोपनीय मेरे रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। (कहा है, किन्तु फिर भी सुन। साधक के लिये इष्ट सदैव खड़े रहते हैं) क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिए यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिए फिर भी कहूँगा। वह है क्या?-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अर्जुन! तू मेरे में ही अनन्य मनवाला हो, मेरा अनन्य भक्त हो, मेरे प्रति श्रद्धा से पूर्ण हो (मेरे समर्पण में अश्रुपात होने लगे), मेरे को ही नमन कर। ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। पीछे बताया- ईश्वर हृदय-देश में है, उसकी शरण जा। यहाँ कहते हैं - मेरी शरण आ। यह अति गोपनीय रहस्ययुक्त वचन सुन कि मेरी शरण आओ। वास्तव में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं? यही कि साधक के लिए सद्गुरु की शरण नितान्त आवश्यक है। श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर थे। अब समर्पण की विधि बताते हैं-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर (अर्थात् मैं ब्राह्मण श्रेणी का कर्त्ता हूँ या शूद्र श्रेणी का, क्षत्रिय हूँ अथवा वैश्य - इसके विचार को त्यागकर) केवल एक मेरी अनन्य शरण को प्राप्त हो। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।

इन सब ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्णों का विचार न कर (कि इस कर्म-पथ में किस स्तर का हूँ) जो अनन्य भाव से शरण हो जाता है, सिवाय इष्ट के अन्य किसी को नहीं देखता, उसका क्रमशः वर्ण-परिवर्तन, उत्थान तथा पूर्ण पापों से निवृत्ति (मोक्ष) की जिम्मेदारी वह इष्ट सद्गुरु स्वयं अपने हाथों में ले लेते हैं।

प्रत्येक महापुरुष ने यही कहा। शास्त्र जब लिखने में आता है, तो लगता है कि यह सबके लिए है; किन्तु है वस्तुतः श्रद्धावान् के लिए ही। अर्जुन अधिकारी था, अतः उसे बल देकर कहा। अब योगेश्वर स्वयं निर्णय देते हैं कि इसके अधिकारी कौन हैं?-

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अर्जुन! इस प्रकार तेरे हित के लिए कहे इस गीता के उपदेश को किसी काल में भूलकर भी न तो तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए, न भक्तिरहित के प्रति कहना चाहिए, न बिना सुनने की इच्छावाले के प्रति कहना चाहिए और जो मेरी निन्दा करता है, यह दोष है, वह दोष है - इस प्रकार झूठी आलोचना करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए। महापुरुष ही तो थे, जिनके समक्ष स्तुतिकर्त्ताओं के साथ-साथ कतिपय निन्दक भी रहे होंगे। इनसे तो नहीं कहना चाहिए। किन्तु प्रश्न स्वाभाविक है कि कहा किससे जाय? इस पर देखें-

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जो मनुष्य मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर इस परम रहस्ययुक्त गीता के उपदेश को मेरे भक्तों में कहेगा, वह निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। अर्थात् वह भक्त मुझे ही प्राप्त होगा, जो सुन लेगा; क्योंकि उपदेश को भली प्रकार सुनकर हृदयंगम कर लेगा, तो उस पर चलेगा तथा पार पा जायेगा। अब उस उपदेशकर्त्ता के लिए कहते हैं-

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वी में दूसरा कोई होगा। किससे? जो मेरे भक्तों में मेरा उपदेश करेगा, उनको उधर उस पथ पर चलायेगा; क्योंकि कल्याण का यही एक स्रोत है, राजमार्ग है। अब देखें अध्ययन-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के सम्वाद को **'अध्येष्यते'**- भली प्रकार मनन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा अर्थात् ऐसा यज्ञ जिसका परिणाम ज्ञान है, जिसका स्वरूप पीछे बताया गया है, जिसका तात्पर्य है - साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी, ऐसा मेरा निश्चित मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जो पुरुष श्रद्धा से युक्त और ईर्ष्यारहित होकर केवल सुनेगा, वह भी पापों से मुक्त हुआ उत्तम कर्म करनेवालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा। अर्थात् करते हुए भी पार न लगे तो सुना भर करें, उत्तम लोक तब भी है; क्योंकि वह चित्त में उन उपदेशों को ग्रहण तो करता है। यहाँ सड़सठ से इकहत्तर तक पाँच श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण ने यह बताया कि गीता का उपदेश अनाधिकारियों को नहीं कहना चाहिए; किन्तु जो श्रद्धावान् है उससे अवश्य कहना चाहिये। जो सुनेगा, वह भक्त मुझे प्राप्त होगा; क्योंकि

अतिगोपनीय कथा को सुनकर पुरुष चलने लगता है। जो भक्तों में कहेगा, उससे अधिक प्रिय कहनेवाला मेरा कोई नहीं है। जो अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा। यज्ञ का परिणाम ही ज्ञान है। जो गीता के अनुसार कर्म करने में असमर्थ है; किन्तु श्रद्धा से मात्र सुनेगा, वह भी पुण्यलोकों को प्राप्त होगा। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने इसके कहने, सुनने तथा अध्ययन का फल बताया। प्रश्न पूरा हुआ। अब अन्त में वे अर्जुन से पूछते हैं कि कुछ समझ में आया?

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

हे पार्थ! क्या मेरा यह वचन तूने एकाग्रचित्त होकर सुना? क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ? इस पर अर्जुन बोला-

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे स्मृति प्राप्त हुई है। (जो रहस्यमय ज्ञान मनु ने स्मृति-परम्परा से चलाया था उसी को अर्जुन ने प्राप्त कर लिया।) अब मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। जबकि सैन्य निरीक्षण के समय दोनों ही सेनाओं में स्वजनों को देख अर्जुन व्याकुल हो गया था। उसने निवेदन किया था कि गोविन्द! स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? ऐसे युद्ध से शाश्वत कुलधर्म नष्ट हो जायेगा, पिंडोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी, वर्णसंकर उत्पन्न होगा। हम लोग समझदार होकर भी पाप करने को उद्यत हुए हैं। क्यों न इनसे बचने के लिए उपाय करें? शस्त्रधारी ये कौरव मुझ शस्त्ररहित को रण में मार डालें, वह मरना भी श्रेयस्कर है। गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा- कहता हुआ वह रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

इस प्रकार गीता में अर्जुन ने योगेश्वर श्रीकृष्ण के समक्ष प्रश्न-परिप्रश्नों की शृंखला खड़ी कर दी। जैसे अध्याय २/७- वह साधन मेरे प्रति कहिए

जिससे मैं परमश्रेय को प्राप्त हो जाऊँ? २/५४-स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण क्या हैं? ३/१-जब आपकी दृष्टि में ज्ञानयोग श्रेष्ठ है तो मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? ३/३६-मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? ४/४-आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है तो मैं यह कैसे मान लूँ कि कल्प के आदि में इस योग को आपने सूर्य के प्रति कहा था? ५/१-कभी आप संन्यास की प्रशंसा करते हैं तो कभी निष्काम कर्म की। इनमें से एक निश्चय करके कहिए जिससे मैं परमश्रेय को प्राप्त कर लूँ? ६/३५-मन चंचल है, फिर शिथिल प्रयत्नवाला श्रद्धावान् पुरुष आपको न प्राप्त होकर किस दुर्गति को प्राप्त होता है? ८/१-२-गोविन्द! जिसका आपने वर्णन किया, वह ब्रह्म क्या है? वह अध्यात्म क्या है? अधिदैव, अधिभूत क्या है? इस शरीर में अधियज्ञ कौन है? वह कर्म क्या है? अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं? सात प्रश्न किये। अध्याय १०/१७ में अर्जुन ने जिज्ञासा की कि निरन्तर चिन्तन करता हुआ मैं किन-किन भावों द्वारा आपका स्मरण करूँ? ११/४ में उसने निवेदन किया कि जिन विभूतियों का आपने वर्णन किया उन्हें मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। १२/१-जो अनन्य श्रद्धा से लगे हुए भक्तजन भली प्रकार आपकी उपासना करते हैं और दूसरे जो अक्षर अव्यक्त की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? १४/२१-तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन लक्षणों से युक्त होता है तथा मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है? १७/१-जो मनुष्य उपरोक्त शास्त्रविधि को त्यागकर किन्तु श्रद्धा से युक्त होकर यजन करते हैं उनकी गति कौन-सी होती है? और १८/१ कि हे महाबाहो! मैं त्याग और संन्यास के यथार्थ स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।

इस प्रकार अर्जुन प्रश्न करता गया। जो वह नहीं कर सकता था उन गोपनीय रहस्यों को भगवान ने स्वयं दर्शाया। इनका समाधान होते ही वह प्रश्नों से विरत हो गया और बोला कि, गोविन्द! अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। वस्तुतः ये प्रश्न मानव मात्र के लिये हैं। इन सभी प्रश्नों के समाधान के बिना कोई भी साधक श्रेय-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

अतः सद्‌गुरु के आदेश का पालन करने के लिये, श्रेय-पथ पर अग्रसर होने के लिए सम्पूर्ण गीता का श्रवण अति आवश्यक है। अर्जुन का समाधान हो गया। साथ ही योगेश्वर श्रीकृष्ण के श्रीमुख से निःसृत वाणी का उपसंहार हुआ। इस पर संजय बोला-

(ग्यारहवें अध्याय में विराट् रूप का दर्शन करा लेने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि, अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा मैं इस प्रकार देखने को (जैसा तूने देखा है), तत्त्व से जानने तथा प्रवेश करने को सुलभ हूँ (११/५४)। इस प्रकार दर्शन करनेवाले साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं और यहाँ अभी अर्जुन से पूछते हैं - क्या तुम्हारा मोह नष्ट हुआ? अर्जुन ने कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया। मैं अपनी स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। आप जो कहते हैं, वही करूँगा। दर्शन के साथ तो अर्जुन को मुक्त हो जाना चाहिए था। वस्तुतः अर्जुन को तो जो होना था, हो गया; किन्तु शास्त्र भविष्य में आनेवाली पीढ़ी के लिए होता है। उसका उपयोग आप सबके लिये ही है।)

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

इस प्रकार मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन (अर्जुन एक महात्मा है, योगी है, साधक है, न कि कोई धनुर्धर जो मारने के लिए खड़ा हो। अतः महात्मा अर्जुन) के इस विलक्षण और रोमांचकारी सम्वाद को सुना। आप में सुनने की क्षमता कैसे आयी? आगे कहते हैं-

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

श्री व्यासजी की कृपा से, उनकी दी हुई दृष्टि से मैंने इस परम गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना है। संजय श्रीकृष्ण को योगेश्वर मानता है। जो स्वयं योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की क्षमता रखता हो, वह योगेश्वर है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हे राजन्! केशव और अर्जुन के इस परम कल्याणकारक और अद्भुत सम्वाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित हो रहा हूँ। अतः इस सम्वाद को सदैव स्मरण करना चाहिये और इसी स्मृति से प्रसन्न रहना चाहिये। अब उनके स्वरूप का स्मरण कर संजय कहते हैं-

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

हे राजन्! हरि के (जो शुभाशुभ सर्व का हरण कर स्वयं शेष रहते हैं, उन हरि के) अति अद्भुत रूप को पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ। इष्ट का स्वरूप बार-बार स्मरण करने की वस्तु है। अन्त में संजय निर्णय देते हैं-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर अर्जुन (ध्यान ही धनुष है, इन्द्रियों की दृढ़ता ही गाण्डीव है अर्थात् स्थिरता के साथ ध्यान धरनेवाला महात्मा अर्जुन) हैं, वहीं पर '**श्रीः**'- ऐश्वर्य, विजय - जिसके पीछे हार नहीं है, ईश्वरीय विभूति और चल संसार में अचल रहनेवाली नीति है, ऐसा मेरा मत है।

आज तो धनुर्धर अर्जुन है नहीं। यह नीति, विजय-विभूति तो अर्जुन तक सीमित रह गयी। तत्सामयिक थी यह। यह तो द्वापर में ही समाप्त हो गयी? लेकिन ऐसी बात नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि मैं सबके हृदय-देश में निवास करता हूँ। आपके हृदय में भी वे हैं। अनुराग ही अर्जुन है। अनुराग आपके अन्तःकरण की इष्टोन्मुख लगन का नाम है। यदि ऐसा अनुराग आप में है, तो सदैव वास्तविक विजय है और अचल स्थिति दिलानेवाली नीति भी सदैव रहेगी, न कि कभी थी। जब तक प्राणी रहेंगे, परमात्मा का निवास उनके हृदय-देश में रहेगा, विकल आत्मा उसे पाने का इच्छुक होगा और उनमें से जिसके भी हृदय में उसे पाने का अनुराग उमड़ेगा,

वही अर्जुन की श्रेणी वाला होगा; क्योंकि अनुराग ही अर्जुन है। अतः मानवमात्र इसका प्रत्याशी बन सकता है।

निष्कर्ष–

यह गीता का समापन अध्याय है। आरम्भ में ही अर्जुन का प्रश्न था कि, प्रभु! मैं त्याग और संन्यास के भेद और स्वरूप को जानना चाहता हूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस पर प्रचलित चार मतों की चर्चा की। इनमें एक सही भी था। इससे मिलता-जुलता ही निर्णय योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दिया कि यज्ञ, दान और तप किसी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। ये मनीषियों को भी पवित्र करनेवाले हैं। इन तीनों को रखते हुए इनके विरोधी विकारों का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है। यह सात्त्विक त्याग है। फल की इच्छा के साथ त्याग राजस है और मोहवश नियत कर्म का ही त्याग करना तामस त्याग है और संन्यास त्याग की ही चरमोत्कृष्ट अवस्था है। नियत कर्म और ध्यानजनित सुख सात्त्विक है। इन्द्रियों और विषयों का भोग राजस है और तृप्तिदायक अन्न की उत्पत्ति से रहित दुःखद सुख तामस है।

मनुष्य मात्र के द्वारा शास्त्र के अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य होने में पाँच कारण हैं - कर्त्ता (मन), पृथक्-पृथक् करण (जिनके द्वारा किया जाता है। शुभ पार लगता है तो विवेक, वैराग्य, शम, दम करण हैं। अशुभ पार लगता है तो काम, क्रोध, राग, द्वेष इत्यादि करण होंगे), नाना प्रकार की इच्छाएँ (इच्छाएँ अनन्त हैं, सब पूर्ण नहीं हो सकतीं। केवल वह इच्छा पूर्ण होती है, जिसके साथ आधार मिल जाता है।), चौथा कारण है आधार (साधन) और पाँचवाँ हेतु है दैव (प्रारब्ध या संस्कार)। प्रत्येक कार्य के होने में यही पाँच कारण हैं, फिर भी जो कैवल्यस्वरूप परमात्मा को कर्त्ता मानता है, वह मूढ़बुद्धि यथार्थ नहीं जानता। अर्थात् भगवान नहीं करते, जब कि पीछे कह आये हैं कि अर्जुन! तू निमित्तमात्र होकर खड़ा भर रह। कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ। अन्ततः उन महापुरुष का आशय क्या है?

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष के बीच एक आकर्षण सीमा है। जब तक मनुष्य प्रकृति में बरतता है, तब तक माया प्रेरणा करती है और जब वह

इससे ऊपर उठकर इष्ट में समर्पित हो जाता है और वह इष्ट जब हृदय-देश से रथी हो जाता है, फिर भगवान करते हैं। ऐसे स्तर पर अर्जुन था, संजय भी था और सब के लिए इस (कक्षा) में पहुँचने का विधान है। अतः यहाँ भगवान प्रेरणा करते हैं। पूर्ण ज्ञाता महापुरुष, जानने की विधि और ज्ञेय परमात्मा इन तीनों के संयोग से कर्म की प्रेरणा मिलती है। इसलिए किसी अनुभवी महापुरुष (सद्‌गुरु) के सान्निध्य में समझने का प्रयास करना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था के प्रश्न को चौथी बार लेते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, शरीर-वाणी और मन को इष्ट के अनुरूप तपाना, ईश्वरीय जानकारी का संचार, ईश्वरीय निर्देशन पर चलने की क्षमता इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली योग्यताएँ ब्राह्मण श्रेणी के कर्म हैं। शौर्य, पीछे न हटने का स्वभाव, सब भावों पर स्वामीभाव, कर्म में प्रवृत्त होने की दक्षता क्षत्रिय श्रेणी का कर्म है। इन्द्रियों का संरक्षण, आत्मिक सम्पत्ति का संवर्द्धन इत्यादि वैश्य श्रेणी का कर्म है और परिचर्या शूद्र श्रेणी का कर्म है। शूद्र का अर्थ है अल्पज्ञ। अल्पज्ञ साधक जो नियत कर्म चिन्तन में दो घण्टे बैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाता। शरीर अवश्य बैठा है, लेकिन जिस मन को टिकाना चाहिए, वह तो हवा से बातें कर रहा है। ऐसे साधक का कल्याण कैसे हो? उसे अपने से उन्नत अवस्थावालों की सेवा करनी चाहिये अथवा सद्‌गुरु की। शनैः-शनैः उसमें भी संस्कारों का सृजन होगा, गति पकड़ लेगा। अतः इस अल्पज्ञ का कर्म सेवा से ही प्रारम्भ होगा। कर्म एक ही है - नियत कर्म, चिन्तन। उसके कर्त्ता की चार श्रेणियाँ - अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। मनुष्य को नहीं बल्कि गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा गया। गीतोक्त वर्ण इतने में ही है।

तत्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि - अर्जुन! उस परमसिद्धि की विधि बताऊँगा, जो ज्ञान की परानिष्ठा है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, धारावाही चिन्तन और ध्यान की प्रवृत्ति, ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यताएँ

जब परिपक्व हो जाती हैं; काम, क्रोध, मोह, राग, द्वेषादि प्रकृति में घसीटकर रखनेवाली प्रवृत्तियाँ जब पूर्णतः शान्त हो जाती हैं, उस समय वह व्यक्ति ब्रह्म को जानने योग्य होता है। उसी योग्यता का नाम पराभक्ति है। पराभक्ति के द्वारा ही वह तत्त्व को जानता है। तत्त्व है क्या? बताया - मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ, उसको जानता है अर्थात् परमात्मा जो है, अव्यक्त, शाश्वत, अपरिवर्तनशील जिन अलौकिक गुणधर्मोंवाला है, उसे जानता है और जानकर वह तत्क्षण मुझमें स्थित हो जाता है। अतः तत्त्व है परमतत्त्व, न कि पाँच या पचीस तत्त्व। प्राप्ति के साथ आत्मा उसी स्वरूप में स्थित हो जाता है, उन्हीं गुणधर्मों से युक्त हो जाता है।

ईश्वर का निवास बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के हृदय-देश में निवास करता है; किन्तु मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर लोग भटक रहे हैं, इसलिए नहीं जानते। अतः अर्जुन! तू हृदय में स्थित उस ईश्वर की शरण जा। इससे भी गोपनीय एक रहस्य और है कि सम्पूर्ण धर्मों की चिंता छोड़कर तू मेरी शरण में आ। तू मुझे प्राप्त होगा। यह रहस्य अनाधिकारी से नहीं कहना चाहिए। जो भक्त नहीं है, उससे नहीं कहना चाहिये। लेकिन जो भक्त है उससे अवश्य कहना चाहिये। उससे दुराव रखें, तो उसका कल्याण कैसे होगा? अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पूछा - अर्जुन! मैंने जो कुछ कहा उसे तूने भली प्रकार सुना-समझा, तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन ने कहा - भगवन्! मेरा मोह नष्ट हो गया है। मैं अपनी स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। आप जो कुछ कहते हैं, वही सत्य है और अब मैं वही करूँगा।

संजय, जिसने इन दोनों के सम्वाद को भली प्रकार सुना है, अपना निर्णय देता है कि श्रीकृष्ण महायोगेश्वर और अर्जुन एक महात्मा हैं। उनका सम्वाद बारम्बार स्मरण कर वह हर्षित हो रहा है। अतः इसका स्मरण करते रहना चाहिये। उन हरि के रूप को याद करके भी वह बारम्बार हर्षित होता है। अतः बारम्बार स्वरूप का स्मरण करते रहना चाहिये। ध्यान करते रहना चाहिये। जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ महात्मा अर्जुन हैं, वहीं श्री है। विजय-विभूति और ध्रुवनीति भी वही है। सृष्टि की नीतियाँ आज हैं, तो कल

बदलेंगी। ध्रुव तो एकमात्र परमात्मा है। उसमें प्रवेश दिलानेवाली नीति ध्रुवनीति भी वहीं है। यदि श्रीकृष्ण और अर्जुन को द्वापरकालीन व्यक्ति विशेष मान लिया जाय तब तो आज न अर्जुन है और न श्रीकृष्ण। आपको न विजय मिलनी चाहिए और न विभूति। तब तो गीता आपके लिये व्यर्थ है। लेकिन नहीं। श्रीकृष्ण एक योगी थे। अनुराग से पूरित हृदयवाला महात्मा ही अर्जुन है। ये सदैव रहते हैं और रहेंगे। श्रीकृष्ण ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं हूँ तो अव्यक्त, लेकिन जिस भाव को प्राप्त हूँ, वह ईश्वर सबके हृदय-देश में निवास करता है। वह सदैव है और रहेगा। सबको उसकी शरण जाना है। शरण जानेवाला ही महात्मा है, अनुरागी है और अनुराग ही अर्जुन है। इसके लिए किसी स्थितप्रज्ञ महापुरुष की शरण जाना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि वही इसके प्रेरक हैं।

इस अध्याय में संन्यास का स्वरूप स्पष्ट किया गया कि सर्वस्व का न्यास ही संन्यास है। केवल बाना धारण कर लेना संन्यास नहीं है; बल्कि इसके साथ एकान्त का सेवन करते हुए नियत कर्म में अपनी शक्ति समझकर अथवा समर्पण के साथ सतत प्रयत्न अपरिहार्य है। प्राप्ति के साथ सम्पूर्ण कर्मों का त्याग ही संन्यास है, जो मोक्ष का पर्याय है। यही संन्यास की पराकाष्ठा है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संन्यासयोगो' नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'संन्यास योग' नामक अठारहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'संन्यासयोगो' नाम अष्टादशो-ऽध्यायः।।१८।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।